श्रुतावतार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-इंद्रनंदीआचार्यदेव-प्रणीत

श्री

श्रुतावतार

मूल संस्कृत गाथा का हिंदी अनुवाद सहित

आभार : गणिनी आर्यिकाश्री ज्ञानमती माताजी

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-श्रुतावतार नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य श्री-इंद्रनंदी आचार्य विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र श्रुतावतार नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर श्रीइंद्रनंदीआचार्यदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतार: सावधानतया श्रृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

(देव वंदना)

सुध्यान में लवलीन हो जब, घातिया चारों हने ।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लिया तब आपने ॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निज सम कर लिये ।
रविज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये ॥

(शास्त्र वंदना)
स्याद्वाद, नय, षट् द्रव्य, गुण, पर्याय और प्रमाण का ।
जड़कर्म चेतन बंध का, अरु कर्म के अवसान का ॥
कहकर स्वरूप यथार्थ जग का, जो किया उपकार है ।
उसके लिये जिनवाणी माँ को, वंदना शत बार है ॥
(गुरु वंदना)
नि:संग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से ।
निज आत्म में ही विहरते, जीवन न पर की आस से ॥
जिनके निकट सिंहादि पशु भी, भूल जाते क्रूरता ।
उन दिव्य गुरुओं की अहो! कैसी अलौकिक शूरता ॥
सर्वनाकीन्द्रवंदित - कल्याणपरंपरं देवं ।
प्रणिपत्य वर्द्धमानं श्रुतस्य वक्ष्येऽहमवतारम् ॥१॥
अन्वयार्थ : सभी स्वर्ग आदि के इन्द्रों से वंदित सर्वकल्याण की परम्परा के स्थान ऐसे वर्धमान देव-अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी को नमस्कार करके मैं श्रुत के अवतार को कहूँगा ॥१॥
यद्यप्यनाद्यनिधनं श्रुतं तथाप्यत्र तन्निभेदेन मया ।
कालाश्रयेण तस्योत्पत्तिविनाशौ प्रवक्ष्येते ॥२॥
अन्वयार्थ : यद्यपि श्रुत अनादिनिधन है अर्थात् अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगा परन्तु यहाँ पर काल के आश्रय से जो उसका अनेक बार उत्पाद और विनाश हुआ है, उसका वर्णन करते हैं ॥२॥
भरतेऽस्मिन्नवसर्पिण्युत्सर्पिण्याह्व्यौ प्रवर्तेते ।
कालौ सदापि जीवोत्सेधायुर्ह्रासवृद्धिकरौ ॥३॥
अन्वयार्थ : इस भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो काल प्रवर्तते रहते हैं जिनमें कि निरंतर जीवों के शरीर की ऊँचाई और आयु में न्यूनाधिकता हुआ करती है ॥३॥
एकैकस्य पृथग्दशकोटीकोट्य: प्रमाणमुद्दिष्टं ।
वाध्र्युपमानावेतौ समाश्रितौ भवति कल्प इति ॥४॥
अन्वयार्थ : अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की स्थिति पृथक्-पृथक् दश कोड़ाकोड़ी सागर की है। दोनों की स्थिति के काल को कल्पकाल कहते हैं ॥४॥
तत्रावसर्पिणीयं प्रवर्तमाना भवेत्समाऽस्याश्च ।
कालविभागा: प्रोक्ता: षडेव कालप्रभेदज्ञै: ॥५॥
सुषमसुषमाह्व्याद्या सुषमान्या सुषमदु:षमेत्यपरा ।
दुष्षमसुषमान्या दुष्षमाऽतिपूर्वा पराऽस्यैव ॥६॥
तत्र क्रमाच्चतस्रस्तिस्रो द्वे सागरोपमाख्यानाम् ।
कोटीकोट्यस्तिसृणामाद्यानां भवति परिमाणम् ॥७॥
कोटीकोटीवर्षसहस्रैरेतैश्चतुर्दशभिरूना ।
त्रिगुणैरंभोधीनां परिमाणं भवति तुर्याया: ॥८॥
एकोत्तरविंशत्यां वर्षसहस्रैर्मिता समोपान्त्या ।
तावद्भिरेव कलिता वर्षसहस्रै: समा षष्ठी ॥९॥
अन्वयार्थ : इस समय अवसर्पिणी काल प्रवर्तमान हो रहा है। काल के भेद जानने वाले गणधरदेव ने इसके छह भेद बतलाये हैं,

सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादु:षमा, दु:षमासुषमा, दु:षमा और दु:षमादु:षमा। इनमें से पहला चार कोड़ाकोड़ी सागर का, दूसरा तीन कोड़ाकोड़ी सागर का, तीसरा दो कोड़ाकोड़ी सागर का, चौथा ब्यालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागर का, पाँचवाँ इक्कीस हजार वर्ष का और छट्ठा इक्कीस हजार वर्ष का ॥५-९॥

धनुषां षट्चत्वारि द्वे च सहस्रे शतानि पंचैव ।
हस्ता: सप्तारत्नि: षट्कालिकमानतोत्सेध: ॥१०॥
पल्यानि त्रीणि द्वे तथैककं वर्षपूर्वकोटी च ।
विंशच्छतं च विंशतिरब्दानां तन्नृणामायु: ॥११॥

अन्वयार्थ : पहले काल में मनुष्यों की ऊँचाई छह हजार धनुष, दूसरे में चार हजार धनुष, तीसरे में दो हजार धनुष, चौथे में पाँच सौ धनुष, पाँचवें में सात हाथ और छठे में १ अरत्निप्रमाण होती है और उन मनुष्यों की आयु पहले काल में तीन पल्य, दूसरे में दो पल्य, तीसरे में एक पल्य, चौथे में एक करोड़ वर्ष पूर्व, पाँचवें में एक सौ बीस वर्ष, छठे में बीस वर्ष होती है ॥१०-११॥

तत्राद्ययोव्र्यतीते समये संपूर्णयोस्तृतीयाया: ।
पल्योपमाष्टमांशन्यूनाया: कुलधरा ये स्यु: ॥१२॥
तेषामाद्यो नाम्ना प्रतिश्रुति: सन्मतिद्र्वितीय स्यात् ।
क्षेमंकरस्तृतीय: क्षेमंधरसंज्ञकस्तुर्य: ॥१३॥
सीमंकरस्तथान्य: सीमंधरसाह्व्यो विमलवाह: ।
चक्षुष्माँश्च यशस्वानभिचंद्रश्चन्द्राभनामा च ॥१४॥
मरूदेवनामधेय: प्रसेनजिन्नाभिराजनामान्त्य: ।
हामाधिक्कारानुशासति निजतेजस: स्खलितान् ॥१५॥
हाकारं पंच ततो हामाकारं च पंच पंचान्ये ।
हामाधिक्कारान् कथयंति तनोर्दण्डनं भरत: ॥१६॥

अन्वयार्थ : पहले दो काल बीत जाने पर और तीसरे काल में पल्य का आठवाँ भाग शेष रह जाने पर प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वान, अभिचंद्र, चन्द्राभ, मरूदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज इन चौदह कुलकरों की उत्पत्ति हुई। इन्होंने अपने प्रताप से हा! मा! धिक्! इन शब्दों से ही पृथ्वी का शासन किया अर्थात् उन्हें यदि कभी दंड देने की आवश्यकता होती थी तो इन शब्दों का व्यवहार करते थे। पहले पाँच कुलकरों ने 'हा' शब्द से, दूसरे पाँच ने हा! मा! और अन्त के पाँच कुलकरों ने हा! मा! और धिक! शब्दों से राज्यशासन किया था ॥१२-१६॥

रवितारालोकेभ्यस्त्रयो नृणामपनयन्ति भयमाढ्या: ।
दीपविचोदनमर्यादाऽऽवृतिवाहादिरोहमत: ॥१७॥
कथयन्ति तु चत्वार: सुतेक्षणाद्भीतिमपहरन्त्यन्य: ।
नामकृतिं शशधरमभि शिशुकेलिं प्रकुरूतेऽन्य: ॥१८॥
जीवति सुतै: सहान्यो जलतरणं गर्भमलविशुद्धिं च ।
नालनिकर्तनमपि च त्रयोऽपि परे व्यपदिशंति नृणां ॥१९॥

अन्वयार्थ : पहले कुलकर ने सूर्य, चन्द्रमा के प्रकाश से जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। दूसरे ने तारागण के प्रकाश से भयभीत लोगों का भय निवारण किया। तीसरे ने सिंह, सर्पादि से जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। चौथे ने अन्धकार के भय को दीपक जलाने की शिक्षा से दूर किया। पाँचवें ने कल्पवृक्षों के स्वत्व की मर्यादा बाँधी। छठे ने अपनी नियमित सीमा में शासन करना सिखलाया। सातवें ने घोड़े, रथ, हाथी आदि सवारियों पर चढ़ना सिखलाया। आठवें कुलकर ने जो लोग अपने पुत्र का मुख देखने से भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। नौवें कुलकर ने पुत्र-पुत्रियों के नामकरण की विधि बताई। दशवें ने चन्द्रमा को दिखलाकर बच्चों को क्रीड़ा करना सिखलाया। ग्यारहवें ने पिता पुत्र के व्यवहार का प्रचार किया अर्थात् लोगों को सिखलाया कि यह

तुम्हारा पुत्र है तुम इसके पिता हो। बारहवें ने नदी समुद्रादि में नाव, जहाज आदि के द्वारा पार जाना, तैरना आदि सिखलाया। तेरहवें ने गर्भ, मल के शुद्ध करने का अर्थात् स्नानादि कर्म का उपदेश दिया। चौदहवें ने नाल काटने की विधि बतलाई ॥१७-१९॥

अथ नाभिराजनृपतेर्मरूदेव्यां व्यजनि नंदनो वृषभ: ।
तीर्थकृतामाद्योऽसौ प्रवर्त्य भरते भृशं तीर्थम् ॥२०॥
निर्वाणमवाप तत: पंचाशल्लक्षकोटिमितिवाद्र्धि: ।
यावदविच्छिन्नतया समागतं तत् श्रुतं सकलं ॥२१॥

अन्वयार्थ : पश्चात् चौदहवें कुलकर श्री नाभिराय की मरुदेवी महारानी के गर्भ से आदि तीर्थंकर श्री वृषभनाथ भगवान उत्पन्न हुए और भरतक्षेत्र में उन्होने अपने तीर्थ की प्रवृत्ति की। उनके निर्वाण होने पर पचास लाख कोटी सागर वर्ष तक सम्पूर्ण श्रुतज्ञानअविच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहा ॥२०-२१॥

जातस्ततोऽजितजिन: शिष्येभ्य: सोऽपि सम्यगुपदिश्य ।
तत् श्रुतमखिलं प्रापन्निर्वाणमनुत्तरं तद्वत् ॥२२॥
एवमजितादिचन्द्रप्रभान्ततीर्र्थेशिनामतिक्रांता ।
सागरकोटीनां त्रिंशक्रमाद्दशभिरथ नवभि: ॥२३॥
लक्षैस्तथा नवत्या नवभिश्च सहस्रकै: शतै: नवभि: ।
शंभवमुख्यात् श्रुतमापन्नमत्या च पुष्पदंतान्तात् ॥२४॥

अन्वयार्थ : अनंतर दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ भगवान ने अवतार लिया और वे भी अपने शिष्यों को भलीभाँति उपदेश करते हुए मोक्ष पधारे। उनके पश्चात् भी श्रुतज्ञान अस्खलित गति से चलता रहा। श्री अजितनाथ के निर्वाण हो जाने के तीस लाखकोटि सागर पीछे सम्भवनाथ जी, उनसे दश लाखकोटि सागर पीछे श्री अभिनंदन, उनसे नौ लाख कोटिसागर पीछे श्री सुमतिनाथ, उनसे नब्बे हजार कोटिसागर पीछे पद्मनाथ, नौ हजार कोटिसागर पीछे श्री सुपार्श्वनाथ, नौ सौ कोटिसागर पीछे श्री चंद्रप्रभ और चंद्रप्रभ से नब्बे कोटिसागर पीछे श्री पुष्पदंतनाथ भगवान हुए । यहाँ तक समस्त श्रुत अव्यवहित प्रकाशित रहा ॥२२-२४॥

अथ पुष्पदंततीर्थे नववारिधिकोटिगणनया कलिते ।
पल्योपमतुर्यांशे शेषे तत् श्रुतमवाप विच्छेदम् ॥२५॥
पल्यचतुर्भागमिते काले तीर्थे तत: समुत्पन्न: ।
शीतलजिन: स पुनराविष्कृतवांस्तत् श्रुतविशेषम् ॥२६॥
शीतलतीर्थे सागरशतेन षट्षष्ठिलक्षमितवर्षै: ।
षड्विंशत्या वर्षसहस्रैर्न्यर्न्यूनैकवाद्र्धिकोटिमिते ॥२७॥
पल्यार्धमात्रकाले शेषे तत्पुनरजन्य विच्छिन्नम् ।
मितवति गतिवति काले ततोऽभवत्तीर्थकृच्छ्रेयान् ॥२८॥
श्रेयस्तीर्थमपि१ चतुष्पंचाशत्सागरोपम प्रमिते ।
पल्यत्रिचतुर्भागे शेषे तत्पुनरवापान्तम् ॥२९॥
पल्यत्रिचतुर्भाग प्रमिते काले गते ततो जात: ।
श्रीवासुपूज्यभगवान् सोऽप्याविष्कृत्य तन्मुक्त: ॥३०॥

अन्वयार्थ : [अथ] तदनन्तर [नववारिधि कोटिगणनया कलिते] नौ करोड़ सागर प्रमाण गणना से युक्त, पुष्पदन्त भगवान् के [तीर्थे] तीर्थ में [पल्योपम तुर्यांशे शेषे] पल्योपम के चतुर्थांश के शेष रहने पर [तत्] वह [श्रुतं] भगवान् की वाणी रूप श्रुतज्ञान [विच्छेद] समाप्ति को [अवाय] प्राप्त हो गया।

[पल्यचतुर्भागमिते] पल्य के चौथाई भाग प्रमाण [काले] काल में [तीर्थे] तीर्थ के विच्छेद होने पर [ततः] तदनन्तर [पुनः] फिर [शीतलजिनः] शीतलनाथ दशवें तीर्थंकर [समुत्पन्नः] उत्पत्र हुए [सः] उन्होंने [तत्] वह पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत [श्रुत विशेषम्] श्रुतज्ञान

[पुनः] फिर से [आविष्कृतवान्] प्रकट किया।
[शीतल तीर्थे] शीतलनाथ दशवे तीर्थंकर के तीर्थ के [सागर शतेन] सौ सागर [षट्षष्टि लक्ष मितवर्षे:] छ्यासठ लाख [षविंशत्या] छब्बीस [वर्ष सहने] हजार वर्ष [न्यूनैक वार्धिककोटिमिते] कम एक करोड़ सागर परिमित अन्तराल में [पल्याई मात्र काले मितवति शेषे काले गतवति] पल्य के आधे प्रमाण शेष काल के बीतने पर शीतलनाथ भगवान द्वारा उपदिष्ट [तीर्थ] धर्म अविच्छिन्न रहा। हाँ आधे पल्य की वह धर्म परम्परा टूट गयी, तब [श्रेयान तीर्थकृत्] श्रेयांस नाथ ११वें तीर्थंकर [अभवत्] हुए ।
[तत्] वह [श्रेयस्तीर्थमपि] श्रेयांसनाथ ग्यारहवें तीर्थंकर द्वारा समुपदिष्ट तीर्थ धर्म [अपि] भी, [चतुपञ्चाशत्सागरोपम प्रमिते] चौवन सागर प्रमाण काल में [पल्यत्रिचतुर्भाग] पल्य के 3/4 भाग के शेष रहने पर [अन्तम्] समाप्ति को [अवाप] प्राप्त हो गया।
[ततो] उसके बाद [पल्यत्रिचतुर्भागे प्रमिते काले गते] पल्य का 3/4 भाग बीतने पर [श्रीवासुपूज्यभगवान्] श्री वासुपूज्य भगवान् [जातः] हुए [सःअपि] वे भी [आविष्कृत्य] धर्मश्रुत को प्रकट करके [मुक्तः जातः] मुक्त हुए।
एवं वसुपूज्यात्मजविमलजिनानंतधर्मतीर्थेषु ।
त्रिंशत्नवकचतुष्कं त्रिपल्यपादोनितत्रिकैर्वाद्र्धीनां ॥३१॥
प्रमितेषु पल्यपल्य त्रिपादपल्यार्धपल्य पल्यांशे ।
शेषे शेषं तत् श्रुतमनुक्रमादाप विच्छेदम् ॥३२॥
अथ धर्मतीर्थसंतानान्तरकालस्य सत्यपर्यन्ते ।
उत्पद्य शांतिनाथस्तत्प्रकटीकृत्य मुक्तिमगात् ॥३३॥
शांत्यादिपाश्र्वपश्चिम तीर्थकराणां च तीर्थसंताने ।
पल्यार्धवर्षकोटीसहस्रोनितपल्यपादाभ्याम् ॥३४॥
कोटिसहस्रेण चतु:पंचाशद्गुणितशतसहस्रेण ।
षड्भिश्च शतसहस्रैर्लक्षाभि: पंचभिश्च तथा ॥३५॥
त्र्यधिकाशीतिसहस्रैर्युतार्धाष्टमशतैश्च पंचाशत् ।
सहितशतद्वितयेन च वर्षाणां सम्मिते क्रमश: ॥३६॥
चतुरमलबोधसंपत्प्रगल्भमतियतिजनैरविच्छिन्नै: ।
न क्वचिदप्यवच्छेदमापत्तत् श्रुतमुदात्तार्थम् ॥३७॥
अजिताद्यास्तीर्थकरा वृषभादिजिनेन्द्रतीर्थकालस्य ।
अंतर्वत्र्यायुष्का जाता इत्यत्र विज्ञेया: ॥३८॥
अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [वसुपूज्यात्मजविमल जिनानन्त धर्म तीर्थेषु] वसुपूज्यात्मज वासुपूज्य भगवान, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ के तीर्थों में [वार्थीनां] सागरों के क्रमशः [त्रिपल्यपादोनिमितित्रिकै] पल्य के तीन भाग बीत जाने से युक्त [त्रिंशत्, नवकं, चतुष्क] तीस, नव तथा चार [प्रमितेषु] प्रमाण होने पर [पल्य-पल्य त्रिपाद पल्यात् अर्ध पल्य पल्याशे] पल्य के तीन भाग प्रमाण व्यतीत हो जाने पर चतुर्थांश के लिये [शेष] शेष [तत् श्रुतम्] वह श्रुतरूप धर्म [अनुक्रमात्] क्रम से [विच्छेदं आदाप] विच्छेद को प्राप्त हो गया।
[अथ] इसके अनन्तर [धर्म तीर्थ सन्तानान्तर कालस्य] धर्मनाथ तीर्थंकर की परम्परा के अनन्तर उस तीर्थ के पौन पल्य कम तीन सागर समय व्यतीत होने पर [शान्तिनाथ:] शान्तिनाथ भगवान [उत्पद्य] उत्पन्न होकर [तत्] उस धर्म श्रुत को [प्रकटीकृत्य] प्रकट करके [मुक्ति] मोक्ष को [अगात्] चले गये।
[शान्त्यादि पार्श्व पश्चिम तीर्थकराणां] शान्तिनाथ हैं आदि में जिनके तथा पार्श्वनाथ के पश्चिम श्री वर्धमान तीर्थंकरों के [तीर्थ सन्ताने] तीर्थ परम्परा में [पल्यार्ध वर्ष कोटी सहस्रोनित पल्यपादाभ्याम] पल्य के आधा बीतने पर, एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य के चतुर्थांश बीतने पर, [कोटि सहस्रेण] एक हजार करोड़ बीतने पर [चतुः पञ्चाशत् गुणित शत सहस्रेण] चौवन गुणित एक लाख **अर्थ**ात् चौवन लाख वर्ष व्यतीत होने पर [षडभिश्च शतसहस्र] छह लाख वर्ष व्यतीत होने पर [लक्षाभिपञ्चभि च] पाँच लाख वर्ष व्यतीत होने पर [त्र्यधिकाशीति सहस्रैर्युतार्धाष्टमशतैश्च त्र्यपञ्चाशत्] सात सौ पचास अधिक तेरासी हजार वर्ष व्यतीत होने पर तथा [सहित द्वितयेन] दो सौ वर्षों के

क्रमशः [सम्मिते] व्यतीत होने पर [उदात्तार्थ] उदात्त अर्थवाला वह श्रुत [धर्म श्रुत] [चतुरमल-बोध-सम्पत-प्रगल्भं-मतियतिजनैः] चार निर्मल ज्ञानों की सम्पदा से प्रगल्भ [प्रकृष्ट] बुद्धि वाले यति जनों से [अविच्छिन्ने] अत्रुटित [क्वचिदपि] कहीं भी [अवच्छेद] भंगता को [न आदत्] प्राप्त नहीं हुआ।

[वृषभादि जिनेन्द्र तीर्थकालस्य] वृषभ आदि जिनेन्द्रों के तीर्थ के समय के [अजिताधास्तीर्थकराः] अजित आदि जिनेन्द्र [अन्तर्वायुष्का] उसी अन्तवर्ती आयु वाले [जाताः] उत्पन्न हैं [इति] ऐसा [विज्ञेया] जानना चाहिए (**अर्थ**ात् पहले-पहले तीर्थकर में उनके बाद के तीर्थंकर की आयु भी सम्मिलित है) ।

अथ पार्श्वनाथतीर्थस्यान्ते श्रीवर्द्धमाननामाऽभूत् ।
प्रियकारिण्यां सिद्धार्थभूपतेरन्त्यतीर्थकर: ॥३९॥

अन्वयार्थ : [अथ पार्श्वनाथ तीर्थस्यान्ते] तदनन्तर पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थकर के अनन्तर [सिद्धार्थ भूपते] सिद्धार्थ राजा की [प्रियकारिण्यां] प्रियकारिणी से [श्री वर्द्धमान नामा] श्री वर्द्धमान नाम के [अन्त्यतीर्थंकरः] अन्तिम तीर्थंकर [अभूत्] हुए ।

त्रिंशद्वर्षेषु कुमार एव विगतेष्वसौ प्रवव्राज ।
द्वादशभिर्वर्षाभि: प्रापद्वै केवलं तप: कुर्वन् ॥४०॥

अन्वयार्थ : [असौ सिद्धार्थ तनय] श्री वर्धमान [कुमार एव] कुमार काल में ही [त्रिंशद्वर्षेषु] तीस वर्षों के [विगतेषु] व्यतीत होने पर [प्रवव्राज] दीक्षित हुए- घर छोड़ कर दीक्षा हेतु वन को चले गये। [द्वादशभिः वर्षाभिः] लगातार बारह वर्षों तक [तपः कुर्वन] तप करते हुए [वै] निश्चय से [केवलं] केवलज्ञान को [प्राप्त] प्राप्त हुए।

उदिते केवलबोधे धनद: शक्राज्ञया चकार सभाम् ।
समवसृतिनामधेयां तस्य स्यादखिललोक गुरो: ॥४१॥

अन्वयार्थ : [केवल बोधे] केवलज्ञान के [उदिते] उदित होने पर [धनदः] कुबेर ने [शक्राज्ञया] इन्द्र की आज्ञा से [समवसृति नामधेया] समवशरण नाम की [सभा] सभा [तस्य अखिल लोक गुरोः] उन सम्पूर्ण लोक के गुरु की [चकार] बनायी।

सुरनरमुनिवृन्दारकवृन्देष्वपि समुदितेषु तीर्थकृत: ।
षट्षष्टिरहानि न निर्जगाम दिव्यध्वनिस्तस्य ॥४२॥

अन्वयार्थ : [सुरनरमुनिवृन्दारकवृन्देषु] भवन, व्यंतर, ज्योतिषी देवों, मुनियों एवं कल्पवासी देवों के एवं अन्य श्रोता समूह के [समुदितेषु] इकट्ठे होने पर [अपि] भी [तस्य तीर्थकृत] उन कैवल्य प्राप्त तीर्थंकर भगवान की [दिव्यध्वनिः] दिव्यवाणी (निरक्षरी ओंकारमयी) [षट्षष्टिः] छियासठ [अहानि] दिन तक [न निर्जगाम] नहीं निकली [प्रकट नहीं हुई]।

दिव्यध्वनेरनिर्गमकारणमवगम्य गणधराभावम् ।
आनेतुमगात्तमत: सुत्रामा गौतमग्रामम् ॥४३॥

अन्वयार्थ : [सुत्रामा] इन्द्र [गणधराभावम्] गणधर के अभाव को [दिव्यध्वनेरनिर्गमकारण] दिव्यध्वनि के नहीं खिरने का कारण [अवगम्य] जानकर [अतः] वहाँ से समवशरण सभा से [तम्] उस गणधर को [आनेतु] लाने के लिये [गौतम ग्रामम] गौतम नामक ग्राम को [अगात्] गया।

तत्र स गत्वा ब्राह्मणशालायामिन्द्रभूतिनामानम् ।
छात्रशतपंचकेभ्यो व्याख्यानं विदधतं विप्रम् ॥४४॥
गौतमगोत्रं विद्यामदगर्वितमखिलवेद वेदांग
प्रतिबुद्धतत्वमवलोक्य कवलिकाछात्रवेषेण ॥४५॥
तद्व्याख्यानं श्रृण्वन्नेकोद्देशे द्विजन्मशालाया: ।
स्थित्वा ततो भवद्भि: प्रतिबुद्धं तत्त्वमिति तस्य ॥४६॥
छात्रेभ्य: प्रतिपादनसमयेऽसौ नासिकाग्रभंगेन ।
मुहुरत्यरूचिं प्रकटीकुर्वन्नुपलक्षितश्छात्रै: ॥४७॥

अन्वयार्थ : [तत्र] उस गौतम ग्राम में, [गत्वा] जाकर [ब्राह्मण शालायां] एक ब्राह्मण शाला में [व्याख्यान] उपदेश को [विदधत] देने वाले [गौतम गोत्रं] गौतम इस गौत्र वाले तथा [विद्यामद गर्वित] विद्या के गर्व से गर्वित [अखिल वेद वेदान प्रतिबुद्ध तत्त्व] सम्पूर्ण वेद वेदाङ्गों के तत्त्व को जानने वाले [इन्द्रभूति] इंद्रभूति नाम के [विप्रं] ब्राह्मण को [अवलोक्य] देखकर [कवलिका छात्र वेषेण] लघुग्नास मात्र भोजी छात्र के वेष द्वारा [द्विजन्मशालायाः] उस ब्राह्मण शाला के [एकोद्देशे] एक प्रदेश में एक ओर [स्थित्वा] खड़े होकर [तद् व्याख्यानं] उस इन्द्रभूति आचार्य के व्याख्यान को [श्रृण्वन] सुनते हुए [तत्तः] उन आचार्य से आप लोगों द्वारा [तत्त्व] तत्त्व को [प्रतिबुद्ध] जाना इति ऐसा पूछने पर [छात्रेभ्यः] छात्रों से [प्रतिपादन समये] बताने के समय [असौ] उस इन्द्र ने [नासिकाग्र] नासिका के अग्रभागों के [भन] विकार द्वारा (नथुने फुलाकर) [मुहुः] बार-बार [अरुचिं] अरुचि को [प्रकटी कुर्वन्] प्रकट करते हुए [छात्रैः] छात्रों द्वारा [उपलक्षित] देख लिया गया।

तेपि ततस्तच्चेष्टितमीदृशमावेदयन् स्वकीयगुरो: ।
सोऽपि ततो द्विजमुख्यस्तमपूर्वं छात्रमित्यवदत् ॥४८॥

अन्वयार्थ : [तेऽपि] वे छात्र भी [ततः] तदन्तर [ईदृशं] इस प्रकार [तच्चेष्टितं] उसकी चेष्टा को [स्वकीय गुरोः] अपने गुरु को [आवेदयन्] निवेदन करने लगे। [सः] वह [द्विजमुख्यः] ब्राह्मणों में प्रमुख आचार्य भी [तम्] उस [अपूर्व] अनोखे नवीन [छात्र] छात्र को [इति] इस प्रकार [अवदत्] बोले।

शास्त्राणि करतलामलकायन्तेऽस्माकमिह समस्तानि ।
अपरेऽपि वादिनोऽस्माज्जायंते नष्टदुष्टमदा: ॥४९॥

अन्वयार्थ : [इह] यहाँ (इस भरत खण्ड में) [अस्माकं] मेरे लिये [समस्तानि] सम्पूर्ण [शास्त्राणि] शास्त्र-चारों वेद, छह वेदाङ्ग, सभी उपनिषद्, अठारहों पुराण, व्याकरण, तर्क, दर्शन, कोष, इतिहास, नीति शास्त्र आदि [करतलामलकायन्ते] हथेली पर रखे हुए आमलक/आंवले की भाँति प्रत्यक्ष हैं। [अपरे] दूसरे [अन्यान्य वादिन] शास्त्रार्थी गण भी [अस्मात्] मुझसे [नष्टदुष्ट मदाः] नष्ट हो गया है- दुष्ट अहंकार जिनका- ऐसे हो गये हैं।

तत्केन हेतुना तद्व्याख्यानं नैव रोचते तुभ्यम् ।
कथयेति ततस्तस्मै प्रतिवचनमुवाच सोऽपीत्थम् ॥५०॥

अन्वयार्थ : [तत् केनं हेतुना] तो किस कारण से [तद् व्याख्यान] वह मेरा उपदेश [तुभ्यं] तुम्हारे लिये [नैव] नहीं, बिलकुल नहीं [रोचते] रुचता है [कथय इति] यह बताइए [ततः] अनन्तर [मोऽपि] वह छात्रवेष धारी इन्द्र भी [तस्मै] उस इन्द्रभूति गौतम आचार्य को [इत्थं] इस प्रकार [प्रतिवचन] उत्तर रूप में [उवाच] बोला।

यदि सर्वशास्त्रतत्त्वं जानन्ति भवन्त एव तदमुष्या: ।
आर्याया: कथयन्त्वर्थमिति पठति तत्काव्यं ॥५१॥

अन्वयार्थ : [यदि] अगर [भवन्तः] आप [सर्वशास्त्र तत्त्वं] सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्व को [जानन्ति] जानते हैं [तत्] तो [अमुष्या] इस [आर्यायाः] आर्या छन्द में रचित पद्य का एक ही अर्थ [कथयन्तु] कहिये। [इति] इस प्रकार कहकर [तत्काव्यं] उस कविता रूप रचना को [पठति] वह ब्राह्मण छात्रवेशधारी इन्द्र पढ़ता है।

षड्द्रव्यनवपदार्थत्रिकालपंचास्तिकायषट्कायान् ।
विदुषां वर: स एव हि यो जानाति प्रमाण नयै: ॥५२॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [प्रमाण नयै:] प्रमाण और नयों के द्वारा [षड्द्रव्यनवपदार्थत्रिकालपंचास्तिकायषट्कायान्] छह द्रव्यों, नौ पदार्थों, तीन कालों, पाँच अस्तिकायों, छह काय के जीवों को [जानाति] भले प्रकार जानता है [स एव] वही [विदुषां वरः] विद्वानों में [ज्ञानियों में] श्रेष्ठ है।

श्रुत्वा तेनेत्युदितामश्रुतपूर्वामतीव विषमार्थाम् ।
आर्यामिमां ततोऽस्या: सोऽर्थमजानन्निति तमूचे ॥५३॥

अन्वयार्थ : [तेन] उस ब्राह्मण विद्यार्थी का वेश धारण करने वाले इन्द्र द्वारा [इति] उपरिलिखित प्रकार से [उदितां] कही हुई [अश्रुतपूर्वा]

पहले कभी न सुनी हुई [अतीव विषमार्थाम्] अत्यन्त विषम अर्थ वाली [इमा आर्या] इस आर्या छन्द में विरचित पद को [श्रुत्वा] सुनकर [ततः] अनन्तर [अस्याः] इस आर्या पद के [अर्थ] अर्थ को [अजानन्] नहीं जानता हुआ [तम्] उस छात्र वेशधारी से [सः] वह इन्द्रभूति आचार्य [इति] इस प्रकार [ऊचे] कहने लगे।

कस्यच्छात्रस्तावत्त्वं कथयेत्याह सोऽपि भट्टार्हत् ।

श्री वर्द्धमानभट्टारकस्य जगतीगुरोश्छात्र: ॥५४॥

अन्वयार्थ : [तावत् त्वं] तो तुम [कस्य] किसके [छात्रः] विद्यार्थी / शिष्य हो [इति कथय] ऐसा कहिये। [सः] वह [आह] बोला [भट्टाहत्] वह योग्य शिष्य [अपि] भी [जगतीगुरो] इस जगत भर के गुरु [श्री वर्धमान भट्टारकस्य] पूज्य वर्द्धमान का [छात्रः] विद्यार्थी [अस्मि] हूँ।

सिद्धार्थनन्दस्य छात्रस्त्वं चेन्महेन्द्रजालविद: ।

देवागमं जनस्य प्रतिदर्शयतो वियन्मार्गे ॥५५॥

अन्वयार्थ : [त्वं चेत्] यदि तुम सिद्धार्थनन्दन वर्द्धमान के शिष्य हो तो [वियन्मार्गे] आकाशमार्ग में [जनस्य] जन समुदाय को [देवागम] देवों के आगमन को [प्रतिदर्शयतः] दिखाने वाले [महेन्द्रजालावदः] महान् इन्द्रजाल को जानने वाले जादूगर के [छात्रः] शिष्य [असि] हो।

तत्तेनैव विवादं सार्धं प्रकरोमि किं त्वया कार्यं ।

त्वत्तो जयापजययोर्ममैव विद्वत्सु लघुता स्यात् ॥५६॥

अन्वयार्थ : [तत्] तो [त्वया] तुमसे [किं कार्यम्] क्या करना [तेनैव] उसी के [साई] साथ [विवाद] शास्त्रार्थ [प्रकरोमि] करूंगा। [त्वत्तो] तुमसे [जयापजययोः] जय या पराजय में [ममैव] मेरी ही [विद्धत्सु] विद्वानों की गोष्ठी में [लघुता] छोटापन [स्यात्] सिद्ध होगा।

एहि व्रजाव इत्यभिधाय पुरोधाय गौतम: शक्रम् ।

समवसृतिं भ्रातृभ्यामायाद्वायुवन्हिभूतिभ्याम् ॥५७॥

अन्वयार्थ : [गौतमः] गौतम इन्द्रभूति आचार्य [एहि] आओ [व्रजाव] हम दोनों चलें [इत्यभिधाय] ऐसा कहकर [वायुवह्निभूतिभ्याम्] वायुभूति एवं अग्निभूति दोनों [भ्रातृभ्याम्] भाइयों के साथ [समवसृति] समवशरण सभा को [आयात्] गया।

दृष्ट्वा मानस्तम्भं विगलितमानोदयो द्विजन्माऽसीत् ।

भ्रातृभ्यां सह जिनपतिमवलोक्य परीत्य तं भक्त्या ॥५८॥

नत्वा नुत्वा त्यक्त्वाऽऽशेषपरिग्रहमनाग्रहो दीक्षां ।

आदायाग्रिमगणभृद्बभूव सप्तर्द्धिसंपन्न: ॥५९॥

अन्वयार्थ : [द्विजन्मा] वह संस्कार पवित्रित जन्म वाला ब्राह्मण इन्द्रभूति [मानस्तम्भ] मानस्तम्भ को [दृष्ट्वा] देखकर [विगलित मानोदय] गल गया है मान जिसका ऐसा [भ्रातभ्यां] दोनों वायुभूति एवं अग्निभूति भाइयों के साथ निरभिमानी [आसील] हुआ [जिनपति] परम-वीतराग जिनेन्द्र वर्द्धमान महावीर के [अवलोक्य] दर्शन करके [भक्त्या] भक्ति से [तं] उन्हें [परीत्य] प्रदक्षिणा देकर [नत्वा] नमस्कार कर [नुत्वा] स्तुति कर [अनाग्रह] मिथ्या-आग्रह से रहित हुआ [अशेष परिग्रह] सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर [दीक्षा आदाय] दीक्षा ग्रहण कर [सप्तर्द्धि सम्पन्नः] सप्त ऋद्धियों से संपन्न होकर [अग्रिम गणभृत] प्रथम गणधर [बभूव] हुआ।

दृष्ट्वा मानस्तम्भं विगलितमानोदयो द्विजन्माऽसीत् ।

भ्रातृभ्यां सह जिनपतिमवलोक्य परीत्य तं भक्त्या ॥५८॥

नत्वा नुत्वा त्यक्त्वाऽऽशेषपरिग्रहमनाग्रहो दीक्षां ।

आदायाग्रिमगणभृद्बभूव सप्तर्द्धिसंपन्न: ॥५९॥

अथ भगवान् किं जीवोऽस्ति नास्ति वा किं गुण: कियान्कीदृक ।

इत्यादिषडयुतप्रमितं तद्गणेट् प्रश्नपर्यंते ॥६०॥

अन्वयार्थ : वहाँ पहुँचने पर ज्यों ही मानस्तम्भ के दर्शन हुए त्यों ही उन तीनों का गर्व गलित हो गया। पश्चात् जिनेन्द्र भगवान को देखकर इनके हृदय में भक्ति का संचार हुआ इसलिये उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया, स्तुति पाठ पढ़ा और उसी समय समस्त परिग्रह का त्याग करके जिनदीक्षा ले ली। इंद्रभूति को तत्काल ही सप्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं और आखिर में वे भगवान के चार ज्ञान के धारी

प्रथम गणधर हो गये। समवसरण में उन इंद्रभूति गणधर ने भगवान से ''जीव अस्तिरूप है, अथवा नास्तिरूप है? उसके क्या-क्या लक्षण हैं, वह कैसा है,'' इत्यादि साठ हजार प्रश्न किये ॥५८-६०॥

जीवोऽस्त्यनादिनिधन: शुभाशुभविभेदकर्मणां कर्ता ।
सदसत्कर्मफलानां भोक्ता स्वोपात्ततनुमात्र: ॥६१॥
उपसंहरणविसर्पणधर्मज्ञानादिभिर्गुणैर्युक्त: ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययलक्षण: स्वसंवेदनग्राह्य: ॥६२॥
नोकर्मकर्मपुद्गलमनादिरूपात्तकर्मसंबंधात् ।
गृण्हन् मुंचन् भ्राम्यन् भवे भवे तत्क्षयान्मुक्त: ॥६३॥
इत्याद्यनेकभेदैस्तथा स जीवादिवस्तुसद्भावम् ।
दिव्यध्वनिना स्फुटमिन्द्रभूतये सन्मतिरवोचत् ॥६४॥

अन्वयार्थ : उत्तर में ''जीव अस्तिरूप है, अनादिनिधन है, शुभाशुभरूप कर्मों का कर्ता भोक्ता है, प्राप्त हुए शरीर के आकार है, उपसंहरण विसर्पण धर्मवाला और ज्ञानादि गुणों करके युक्त है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षणविशिष्ट है स्वसंवेदन ग्राह्य है, अनादि प्राप्त कर्मों के संबंध से नोकर्म-कर्मरूप पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ, छोड़ता हुआ, भव भव में भ्रमण करने वाला और उक्त कर्मों के क्षय होने से मुक्त होने वाला है'' इस प्रकार से अनेक भेदों से जीवादि वस्तुओं का सद्भाव भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा प्रस्फुटित किया ॥६१-६४॥

श्रावणबहुलप्रतिपद्युदितेऽर्के रौद्रनामनि मुहूर्ते।
अभिजिद्गते शशांके तीर्थोत्पत्तिर्बभूव गुरो: ॥६५॥
तेनेन्द्र भूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्य तत्त्वेन ।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराण्हे ॥६६॥
प्रतिपादितं ततस्तत् श्रुतं समस्तं महात्मना तेन ।
प्रथितात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय ॥६७॥
सोपि प्रतिपादितवान् जम्बूनाम्ने सधर्मणे स्वस्य ।
तेभ्यस्ततो गणिभ्योऽन्यैरपि तदधीतं मुनिवृषभै: ॥६८॥

अन्वयार्थ : पश्चात् श्रावण मास की प्रतिपदा को सूर्योदय के समय रौद्र मुहूर्त में जबकि चंद्रमा अभिजित नक्षत्र पर था, गुरु के तीर्थ की (दिव्यध्वनि की अथवा दिव्यध्वनि द्वारा संसार समुद्र से तिरने में कारणभूत यथार्थ मोक्षमार्ग के उपदेश की) उत्पत्ति हुई। श्री इंद्रभूति गणधर ने भगवान की वाणी को तत्त्वपूर्वक जानकर उसी दिन सायंकाल को अंग और पूर्वों की रचना युगपत् की और फिर उसे अपने सहधर्मी सुधर्मास्वामी को पढ़ाया। इसके अनंतर सुधर्माचार्य ने अपने साधर्मी जम्बूस्वामी को और उन्होंने अन्य मुनिवरों को वह श्रुत पढ़ाया ॥६५-६८॥

सन्मतिजिनस्ततोऽसावासन्नविमुक्ति भव्यसस्यानाम् ।
परमानंदं जनयन् धर्मामृतवृष्टिसेकेन ॥६९॥
त्रिंशतमिह वर्षाणां विहृत्य बहुजनपदान् जगत्पूज्य: ।
सरसिजवनपरिकलिते पावापुरबहिरुद्याने ॥७०॥
वत्सरचतुष्टयेऽर्द्धं त्रिमासहीने चतुर्थकालस्य ।
शेषे कार्तिककृष्ण चतुर्दश्यां निर्वृतिमवाप ॥७१॥

अन्वयार्थ : पश्चात् जगत्पूज्य श्रीसन्मतिनाथ अनेक निकट भव्यरूपी सस्यों को (धान्य को) धर्मामृतरूपी वर्षा के सिंचन से परमानन्दित करते हुए तीस वर्ष तक अनेक देशों में विहार करते हुए कमलों के वन से अतिशय शोभायमान पावापुर के उद्यान में पहुंचे और वहाँ से जब तीन वर्ष साढ़े आठ महीने चतुर्थकाल के शेष रह गये, तब कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को मोक्ष पधारे ॥६९-७१॥

भगवत्परिनिर्वाणक्षण एवावाप केवलं गणभृत् ।

गौतमनामा सोऽपि द्वादशभिर्वत्सरैर्मुक्त: ॥७२॥
निर्वाणक्षण एवासावापत्केवलं सुधर्ममुनि: ।
द्वादशवर्षाणि विहृत्य सोऽपि मुक्तिम परामाप ॥७३॥
जम्बूनामाऽपि ततस्तन्निर्वृतिसमय एव कैवल्यम् ।
प्राप्याष्टत्रिंशतमिह समा विहृत्याप निर्वाणम् ॥७४॥
एते त्रयोऽपि मुनयोऽनुबद्धकेवलिविभूतयोऽमीषाम् ।
केवलदिवाकरोऽस्मिन्नस्तमवाप व्यतिक्रान्ते ॥७५॥

अन्वयार्थ : भगवान के निर्वाण होने के साथ ही श्री इंद्रभूति गणधर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और वे बारह वर्ष विहार करके मोक्ष को प्राप्त हुए। उनके निर्वाण होते ही सुधर्माचार्य को केवलज्ञान का उदय हुआ सो उन्होंने भी बारह वर्ष विहार करके अन्तिम गति पाई और तत्काल ही जम्बूस्वामी को केवलज्ञान हुआ। उन्होंने ३८ वर्ष विहार करके भव्य जीवों को धर्मोपदेश दिया और अंत में मोक्षमहल को प्रयाण किया। इन तीनों मुनियों ने परम केवल विभूति को पाई तब तक केवल दिवाकर का उदय निरंतर बना रहा परन्तु उनके पश्चात् ही उसका अस्त हो गया२ ॥७२-७५॥

जम्बूनामा मुक्तिम प्राप यदासौ तथैव विष्णुमुनि: ।
पूर्वांग भेदभिन्नाशेषश्रुतपारगो जात: ॥७६॥
एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽत्रासन् ।
नन्द्यपराजित गोवर्धनाह्वया भद्रबाहुश्च ॥७७॥
एषां पंचानामपि काले वर्षशतसम्मितेऽतीते ।
दशपूर्वविदोऽभूवंस्तत एकादश महात्मान: ॥७८॥
तेषामाद्यो नाम्ना विशाखदत्तस्तत: क्रमेणासन् ।
प्रोष्ठिलनामा क्षत्रियसंज्ञो जयनागसेनसिद्धार्था: ॥७९॥
धृतिषेणविजयसेनौ च बुद्धिमान्गङ्गधर्मनामानौ ।
एतेषां वर्षशतं त्र्यशीतियुतमजनि युगसंख्या ॥८०॥

अन्वयार्थ : जम्बूस्वामी की मुक्ति के पीछे श्री विष्णुमुनि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के पारगामी श्रुत केवली (द्वादशांग के धारक) हुए और इसी प्रकार से नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये चार महामुनि भी अशेषश्रुतसागर के पारगामी हुए। उक्त पाँचों श्रुतकेवली १०० वर्ष के अंतराल में हुए अर्थात् भगवान की मुक्ति के पश्चात् ६२ वर्ष में ३ केवली हुए और फिर १०० वर्ष में ५ श्रुतकेवली हुए देखते-देखते श्रुत केवली सूर्य भी अस्त हो गया, तब ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारण करने वाले ग्यारह महात्मा हुए। विशाखदत्त, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, घृतिषेण, विजयसेन, बुद्धिमान, गंगदेव और धर्मसेन। इतने में १८३ वर्ष का समय व्यतीत हो गया ॥७६-८०॥

नक्षत्रो जयपाल: पांडुर्द्रुसेनकंसनामानौ ।
एते पंचापि ततो बभूवुरेकादशांगधरा: ॥८१॥
विंशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूव युगसंख्या ।
आचारांगधराश्चत्वारस्तत उद्भवन् क्रमश: ॥८२॥
प्रथमस्तेषु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्यापरोऽपि जयबाहु: ।
लोहार्योऽन्त्यश्चैतेऽष्टादशवर्ष युगसंख्या ॥८३॥

अन्वयार्थ : पश्चात् दो सौ बीस वर्ष में नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रुमसेन और कंसाचार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। पश्चात् एक सौ अठारह वर्ष में सुभद्र, अभयभद्र, जयबाहु और लोहाचार्य ये चार मुनीश्वर आचारांग शास्त्र के परम विद्वान् हुए। यहाँ तक, अर्थात् श्री वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पीछे तक अंगज्ञान की प्रवृत्ति रही, अनंतर कालदोष से वह भी लुप्त हो गयी ॥८१-८३॥

विनयधर: श्रीदत्त: शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते ।

आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नंगपूर्वदेशधरा: ॥८४॥
सर्वांग पूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्य: ॥८५॥
स च तत्प्रसारणाधारणा विशुद्धातिसत्क्रियोद्युक्त: ।
अष्टांगनिमित्तज्ञ: संघानुग्रहनिग्रहसमर्थ: ॥८६॥

अन्वयार्थ : लोहाचार्य के पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त ये चार आरातीय मुनि अंगपूर्वदेश के अर्थात् अंगपूर्व ज्ञान के कुछ भाग के ज्ञाता हुए। और फिर पूर्वदेश के पुण्ड्रवर्धनपुर में श्री अर्हद्बलि मुनि अवतीर्ण हुए। जो अंगपूर्वदेश के भी एकदेश (भाग) के जानने वाले थे, श्रुत-ज्ञान के प्रसारण, धारण, विशुद्धि करण आदि उत्तम क्रियाओं में निरंतर तत्पर थे, अष्टांगनिमित्त ज्ञान के ज्ञाता थे और मुनिसंघ का निग्रह अनुग्रहपूर्वक शासन करने में समर्थ थे ॥८४-८६॥

आस्ते संवत्सरपंचकावसाने युगप्रतिक्रमणम् ।
कुर्वन्योजनशतमात्रवर्तिमुनिजन समाजस्य ॥८७॥
अथ सोऽन्यदा युगांते कुर्वन् भगवान् युगप्रतिक्रमणम् ।
मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यतय: ॥८८॥
तेऽप्यूचुर्भगवन् वयमात्मात्मीयेन सकलसंघेन ।
सममागतास्ततस्तद्वच: समाकर्ण्य सोऽपि गणी ॥८९॥
काले कलावमुष्मिन्नित: प्रभृत्यत्र जैनधर्मोऽयम् ।
गणपक्षपातभेदै: स्थास्यति नोदासभावेन ॥९०॥

अन्वयार्थ : इसके सिवाय वे प्रत्येक पांच वर्ष के अंत में सौ योजन क्षेत्र में निवास करने वाले मुनियों के समूह को एकत्र करके युगप्रतिक्रमण कराते थे। एक बार उक्त भगवान अर्हद्बलि आचार्य ने युगप्रतिक्रमण के समय मुनिजनों के समूह से पूछा कि ''सब यति आ गये?'' उत्तर में उन मुनियों ने कहा कि-''भगवन्! हम सब अपने-अपने संघ सहित आ गये।'' इस वाक्य में अपने-अपने संघ के प्रति मुनियों की निजत्व बुद्धि (पक्षबुद्धि) प्रगट होती थी इसलिये तत्काल ही आचार्य भगवान ने निश्चय कर लिया कि इस कलिकाल में अब आगे यह जैनधर्म भिन्न-भिन्न गणों के पक्षपात से ठहर सकेगा, उदासीन भाव से नहीं अर्थात् आगे के मुनि अपने-अपने संघ का गण का, गच्छ का पक्ष धारण करेंगे, सबको एकरूप समझकर मार्ग की प्रवृत्ति नहीं कर सकेंगे ॥८७-९०॥

इति संचिंत्य गुहाया: समागता ये यतीश्वरास्तेषु ।
कांश्चिन्नंद्यभिधानान् कांश्चि 'द्वीरा' ह्व्यानकरोत् ॥९१॥
प्रथितादशोक वाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु ।
काँश्चि 'दपराजिता' ख्यान् काँश्चिद् 'देवा' ह्वयानकरोत् ॥९२॥
पंचस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगरिणस्तेषु ।
काँश्चित्'सेना' भिख्यान्काँश्चिद्'भद्रा'भिधानकरोत् ॥९३॥
ये शाल्मली महाद्रुम मूलाद्यतयोऽभ्युपागतास्तेषु ।
काँश्चिद् 'गुणधर' संज्ञान् काँश्चिद् गुप्ताह्यानकरोत् ॥९४॥
ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनय: समागतास्तेषु ।
काँश्चित्'सिंहा'भिख्यान् कांश्चिच् 'चन्द्रा' ह्व्यानकरोत् ॥९५॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार विचार करके उन्होंने जो मुनिगण गुफा से आये थे, उनमें से किसी-किसी की नंदि और किसी-किसी की वीर संज्ञा रखी। जो अशोकवट से आये थे उनमें से किसी की अपराजित और किसी की देव संज्ञा रखी। जो पंचस्तूपों का निवास छोड़कर आये थे, उनमें से किसी को सेन और किसी को भद्र बन दिया। जो महाशाल्मली (सेंवर) वृक्षों के नीचे से आये थे, उनमें से किसी की गुणध और किसी की गुप्त संज्ञा रखी और जो खंडकेसर (बकुल) वृक्षों के नीचे से आये थे उनमें से किसी की सिहं और किसी की चंद्र संज्ञा रखी ॥

९१-९५॥
पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभ: शाल्मलीवृक्ष मूलात्—
निर्यातौ सिंहचंद्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥९६॥
अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता 'नंदिनो' महात्मान: ।
'देवाश्चाशोकवनात्पंचस्तूप्यास्तत: 'सेन:' ॥९७॥
विपुलतरशाल्मलीद्रुममूलगतावासवासिनो 'वीरा:' ।
'भद्रा' श्च खण्डकेसरतरूमूलनिवासिनो जाता: ॥९८॥
गुहायां वासितो ज्येष्ठो द्वितीयोऽशोकवाटिकात् ।
निर्यातौ 'नंदि 'देवा' भिधानावाद्यावनुक्रमात् ॥९९॥
पंचस्तूप्यास्तु 'सेना' नां 'वीरा' णां शाल्मलीदु्रम: ।
खण्डकेसरनामा च 'भद्र:' 'सिंहो'ऽस्य सम्मत: ॥१००॥

अन्वयार्थ : अनेक आचार्यों का ऐसा मत है कि गुहा से निकलने वाले नंदि, अशोक वन से निकलने वाले देव, पंचस्तूपों से आने वाले सेन बने, भारी शाल्मलिवृक्ष के नीचे निवास करने वाले वीर और खंडकेसर वृक्ष के नीचे रहने वाले भद्र संज्ञा से प्रसिद्ध किये गये थे१ ॥ ९६-१००॥

एवं तस्यार्हद्बलेर्मुनिजनसंघप्रवर्तकस्यासन् ।
विनययजना मुनीन्द्रा: पंचकुलाचारतोपास्या: ॥१०१॥
तस्यानंतरमनगारपुंगवो माघनन्दिनामाऽभूत् ।
सोऽप्यंगपूर्वदेशं प्रकाश्य समाधिना दिवं यात: ॥१०२॥
देशे तत: सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयंतगिरौ ।
चंद्रगुहाविनिवासी महातपा: परममुनिमुख्य: ॥१०३॥
अग्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहाकर्म
प्राभृतकज्ञ: सूरिर्धरसेननामाऽभूत् ॥१०४॥
सोऽपि निजायुष्यांतं विज्ञायास्माभिरलमधीतमिदं ।
शास्त्रम व्युच्छेदमवाप्स्यतीति संचिन्त्य निपुणमति: ॥१०५॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार से मुनिजनों के संघ प्रवर्तन करने वाले उक्त श्री अर्हद्बलि आचार्य के वे सब मुनीन्द्र शिष्य कहलाये। उनके पश्चात् एक श्री माघनंदि नामक मुनिपुंगव हुए और वे भी अंगपूर्व-देश का भलीभाँति प्रकाश करके स्वर्गलोक को पधारे। तदनंतर सुराष्ट्र (सोरठ) देश के गिरिनगर के समीप ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार) की चंद्रगुफा में निवास करने वाले महातपस्वी श्रीधरसेन आचार्य हुए। इन्हें अग्रायणीय पूर्व के अंतर्गत पंचमवस्तु के चतुर्थ महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। अपने निर्मल ज्ञान में जब उन्हें यह भासमान हुआ कि, अब मेरी आयु थोड़ी शेष रह गई है और अब मुझे जो शास्त्रका ज्ञान है, वही संसार में अलम् होगा अर्थात् इससे अधिक शास्त्रज्ञ आगे कोई नहीं होगा और यदि कोई प्रयत्न नहीं किया जावेगा तो श्रुत का विच्छेद हो जावेगा ॥१००-१०५॥

देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा ।
समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखं ॥१०६॥
आदाय लेखपत्रं तेप्यथ तद्ब्रह्मचारिणो हस्तात् ।
प्रविमुच्य बंधनं वाचयाम्बभूवुस्तदा महात्मान: ॥१०७॥
स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयंततटनिकट चंद्रगुहा-
वासाद्धरसेनगणी वेणाकतटसमुदितयतीन् ॥१०८॥
अभिवंद्य कार्यमेवं निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम् ।

स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्ति: ॥१०९॥
न स्याद्यथा तथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ ।
निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयतेति लेखार्थम् ॥११०॥
अन्वयार्थ : ऐसा विचार कर निपुणमति श्रीधरसेन महर्षि ने देशेन्द्रदेश के बेणातटाकपुर में निवास करने वाले महामहिमाशाली मुनियों के निकट एक ब्रह्मचारी के द्वारा पत्र भेजा। ब्रह्मचारी ने पत्र ले जाकर उक्त मुनियों के हाथ में दिया। उन्होंने बंधन खोलकर बाँचा। उसमें लिखा हुआ था कि-''स्वस्ति श्री बेणाकतटवासी यतिवरों को ऊर्जयन्ततट निकटस्थ चंद्रगुहानिवासी धरसेनगणि अभिवदंना करके यह कार्य सूचित करते हैं कि मेरीआयु अत्यंत स्वल्प रह गई है। जिससे मेरे हृदयस्थ शास्त्र की व्युच्छित्ति हो जाने की संभावना है अतएव उसकी रक्षा करने के लिये आप लोग दो ऐसे यतीश्वरों को भेज दीजिये जो शास्त्रज्ञान के ग्रहण-धारण करने में समर्थ और तीक्ष्ण बुद्धि हों।'' इन समाचारों का आशय भलीभाँति समझकर उन मुनियों ने भी दो बुद्धिशाली मुनियों को अन्वेषण करके तत्काल ही भेज दिया ॥ १०६ से ११०॥
सम्यगवधार्य तैरपि तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य ।
प्रहितौ तावपि गत्वा चापतुररमूर्जयंतगिरिं ॥१११॥
आगमनदिने च तयो: पुरैव धरसेन सूरिरपि रात्रौ ।
निजपादयो: पतन्तौ धवलवृषावैक्षत स्वप्ने ॥११२॥
तत्स्वप्नेक्षण मात्राज्जयतु श्रीदेवतेति समुपलपन् ।
उदतिष्ठदत: प्रात: समागतावैक्षत मुनी द्वौ ॥११३॥
अन्वयार्थ : जिस दिन वे मुनि ऊर्जयन्तगिरि पर पहुँचे उसकी पहली रात्रि को श्री धरसेन मुनि ने स्वप्न में दो श्वेत बैलों को अपने चरणों में पड़ते हुए देखा। स्वप्न के पश्चात् ज्यों ही वे ''जयतु श्री देवता'' ऐसा कहते हुए जाग के खड़े हुए त्यों ही उन्होंने देखा कि, वेणातटाकपुर१ से आये हुए दो मुनि सन्मुख खड़े हैं और अपने आगमन का कारण निवेदन कर रहे हैं ॥१११-११३॥
प्राघूर्णिकोचितविधिं तयोर्विधायादरात्ततस्ताभ्यां ।
विश्राम्य त्रीन्दिवसान् निवेदितागमनहेतुभ्याम् ॥११४॥
सुपरीक्षा हृन्निर्वर्तिकरीति संचिन्त्य दत्तवान् सूरि: ।
साधयितुं विद्ये द्वे हीनाधिकवर्णसंयुक्ते ॥११५॥
श्रीमन्नेमिजिनेश्वर सिद्धिशिलायां विधानतो विद्या
संसाधनं विदधतोस्तयोश्च पुरत: स्थिते देव्यौ ॥११६॥
हीनाक्षरविद्यासाधकस्य देव्येकलोचनाग्रेऽस्थात् ।
अधिकाक्षरविद्यासाधकस्य सा दंतुरा तस्थौ ॥११७॥
अन्वयार्थ : श्री धरसेनाचार्य ने आदरपूर्वक उनका अतिथि-सत्कार (प्राघूर्णिक विधान) किया और फिर मार्गपरिश्रम शमन करने के लिये तीन दिन तक विश्राम करने दिया। तत्पश्चात् यह सोचकर कि ''सुपरीक्षा चित्त को शांति देने वाली होती है'' अर्थात् जिस विषय की भलीभाँति परीक्षा कर ली जाती है, उसमें फिर किसी प्रकार की शंका नहीं रहती है, उन्होंने उन दोनों को दो विद्याएँ साधन करने के लिये दीं, जिनमें से एक विद्या में अक्षर कम थे और दूसरी में अधिक थे। उक्त मुनियों ने श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर की सिद्धशिला पर (निर्वाणभूमि पर) जाकर विधिपूर्वक विद्याओं का साधन किया। परन्तु जो अक्षरहीन विद्या साध रहा था, उसके आगे एक आँख वाली देवी और अधिक अक्षर साधने वाले के सम्मुख बड़े दाँत वाली देवी आकर खड़ी हो गई ॥११४-११७॥
दृष्ट्वा ताविति देव्यौ न देवतानां स्वभाव एष इति ।
प्रविचिन्त्य ततो विद्यामंत्रव्याकरणविधिनैव ॥११८॥
प्रस्तार्य न्यूनाधिकवर्णक्षेपापचविधानेन ।
पुनरपि पुरतश्च तयोर्देव्यौ ते दिव्यरूपेण ॥११९॥

केयूरहारनूपुरकटककटीसूत्रभासुरशरीरे ।
अग्रे स्थित्वा वदतां किं करणीयं प्रवदतेति ॥१२०॥
तावप्यूचतुरेतन्नास्माकं कार्यमस्ति तत्किमपि ।
ऐहिकपारत्रिकयोर्भवतीभ्यां सिद्धयति यदत्र परम् ॥१२१॥
किन्तु गुरूनियोगादावाभ्यां विहितमेतदिती वचनम् ।
श्रुत्वा तयोरभीष्टं ते जग्मतु: स्वास्पदं देव्यौ ॥१२२॥

अन्वयार्थ : यह देखकर मुनियों ने सोचा कि देवताओं का यह स्वभाव नहीं है-यह असली स्वरूप नहीं है। अवश्य ही हमारी साधना में कोई भूल हुई है। तब उन्होंने मंत्र व्याकरण की विधि से न्यूनाधिक वर्णों के क्षेपने और अपचय करने के विधान से मंत्रों को शुद्ध करके फिर चिन्तवन किया। जिससे कि उन देवियों ने केयूर (भुजा पर पहनने का आभरण) हार, नूपुर (बिछुए), कटक (कंकण) और कटिसूत्र (करधनी) से सुसज्जित दिव्यरूप धारण करके दर्शन दिया और समक्ष उपस्थित होकर कहा कि ''कहिये- किस कार्य के लिये हमको आज्ञा होती है?'' यह सुनकर मुनियों ने कहा कि हमारा ऐहिक पारलौकिक ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसे तुम सिद्ध कर सको। हमने तो केवल गुरूदेव की आज्ञा से मंत्रो की सिद्धि की है। मुनियों का अभीष्ट सुनकर वे देवियाँ उसी समय अपने स्थान को चली गईं ॥११८ से १२२॥

विद्यासाधनमेवं विधाय तोषा त्ततो गुरो: पाश्र्वम् ।
गत्वा तौ निजवृत्तान्तमवदतां तद्यथावृत्तम् ॥१२३॥
सोऽप्यतियोग्याविति संचिन्त्य तत: सुप्रशस्ततिथिवेला ।
नक्षत्रेषु तयोर्व्याख्यातुं प्रारब्धवान् ग्रंथम् ॥१२४॥
ताभ्यामप्यध्ययनं कुर्वाणाभ्यामपास्ततन्द्राभ्याम् ।
परममविलंघयद्भ्यां गुरुविनयं ज्ञानविनयं च ॥१२५॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार से विद्यासाधन करके संतुष्ट होकर उन दोनों मुनियों ने गुरुदेव के समीप जाकर अपना सारा वृत्तान्त निवेदन किया, उसे सुनकर श्री धरसेनाचार्य ने उन्हें अतिशय योग्य समझकर शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ समय में ग्रंथ का व्याख्यान करना प्रारंभ कर दिया और वे मुनि भी आलस्य छोड़कर गुरूविनय तथा ज्ञानविनय का पालन करते हुए अध्ययन करने लगे ॥१२३-१२५॥

दिवसेषु कियत्स्वपिगतेष्वथाषाढमासि सितपक्षे ।
एकादश्यां च तिथौ ग्रंथसमाप्ति: कृता विधिना ॥१२६॥
तद्दिन एवैकस्य द्विजपक्तिम विषमितामपास्य सुरै: ।
कृत्वा कुंडोपमिताम नाम कृतं 'पुष्पदंत' इति ॥१२७॥
अपरोऽपि तुर्यनादैर्जयघोषैर्गंधमाल्यधूपाद्यै: ।
'भूतपति'रेष इत्याहूतो भूतैर्महं कृत्वा ॥१२८॥

अन्वयार्थ : कुछ दिन के पश्चात् आषाढ शुक्ला ११ को विधिपूर्वक ग्रंथ समाप्त हुआ। उस दिन देवों ने प्रसन्न होकर प्रथम मुनि की दंतपंक्ति को जो कि विषमरूप थी, कुं द के पुष्पों सरीखा कर दिया और उनका पुष्पदंत ऐसा सार्थक नाम रख दिया। इसी प्रकार से भूत जाति के देवों ने द्वितीय मुनि की तूर्यनाद-जयघोष तथा गंध माल्य धूपादिक से पूजा करके उनका भी सार्थक नाम भूतबलि रख दिया ॥ १२६ से १२८॥

स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा माभूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन् ।
इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन ॥१२९॥
प्रियहितवचनैरमुष्य ताबुभौ एव कुरीश्वरं प्रहितौ ।
तावपि नवभिदिवसैर्गत्वा तत्पत्तनमवाप्य ॥१३०॥
योगं प्रगृह्य तत्राषाढे मास्यसितपक्षपंचम्याम् ।

वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखं ॥१३१॥

अन्वयार्थ : दूसरे दिन गुरू ने यह सोचकर कि मेरी मृत्यु सन्निकट है, यदि ये समीप रहेंगे तो दु:खी होंगे, उन दोनों को कुरीश्वर भेज दिया। तब वे ९ दिन चलकर उस नगर में पहुँच गये। वहाँ आषाढ़ कृष्ण ५ को योग ग्रहण करके उन्होंने वर्षाकाल समाप्त किया और पश्चात् दक्षिण की ओर विहार किया ॥१२९-१३१॥

जग्मतुरथ करहाटे तयो: स य: पुष्पदंतनाममुनि: ।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वासौ भागिनेयं स्वम् ॥१३२॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम् ।
तस्थौ भूतबलिरपि मथुरायां द्रविडदेशेऽस्थात् ॥१३३॥
अथ पुष्पदंतमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम् ।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डै: ॥१३४॥
वांच्छन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया ।
युक्तम जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ॥१३५॥

अन्वयार्थ : कुछ दिन के पश्चात् वे दोनों महात्मा करहाट नगर में पहुँचे। वहाँ श्री पुष्पदंत मुनि ने अपने जिनपालित नामक भान्जे को देखा और उसे जिनदीक्षा देकर वे अपने साथ ले वनवासदेश में जा पहुँचे। इधर भूतबलि द्रविड देश के मथुरानगर में पहुँचकर ठहर गये। करहाट नगर से उक्त दोनों मुनियों का साथ छूट गया। श्री पुष्पदंत मुनि ने जिनपालित को पढ़ाने के लिये विचार किया कि कर्मप्रकृति प्राभृत का छह खंडों में उपसंहार करके ग्रंथरूप रचना करनी चाहिए और इसलिये उन्होंने प्रथम ही जीवस्थानाधिकार की जिसमें कि गुणस्थान, जीवसमासादि बीस प्ररूपणाओं का वर्णन है, बहुत उत्तमता के साथ रचना की ॥१३२-१३५॥

सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतिबलि गुरो:पार्श्वं ।
तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयदगमदेषोऽपि ॥१३६॥
तेन तत: परिपठितां भूतबलि: सत्प्ररूपणां श्रुत्वा ।
षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदंत गुरो: ॥१३७॥
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य तत: ।
द्रव्य प्ररूपणाद्यधिकार: खण्डपंचकस्यान्वक् ॥१३८॥
सूत्राणि षट्सहस्रग्रंथान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि ।
प्रविरच्य महाबन्धाह्व्यं तत: षष्ठकं खण्डं ॥१३९॥
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रंथं व्यरचयदसौ महात्मा ।
तेषां पंचानामपि खण्डानां श्रृणुत नामानि ॥१४०॥

अन्वयार्थ : फिर उस शिष्य को सौ सूत्र पढ़ाकर श्री भूतबलिमुनि के पास उनका अभिप्राय ज्ञात करने के लिये अर्थात् यह जानने के लिये कि वे इस कार्य के करने में सहमत हैं अथवा नहीं हैं, और हैं तो जिस रूप में रचना हुई है, उसके विषय में क्या सम्मति देते हैं, भेज दिया। उसने भूतबलि महर्षि के समीप जाकर के प्ररूपणासूत्र सुना दिये। जिन्हें सुनकर उन्होंने श्री पुष्पदंत मुनि की षट्खंडरूप आगमरचना का अभिप्राय जान लिया और अब लोग दिन पर दिन अल्पायु और अल्पमति होते जाते हैं, ऐसा विचार करके उन्होंने स्वयं पाँच खंडों में पूर्व सूत्रो के सहित छह हजार श्लोकाविशिष्ट द्रव्यप्ररूपणााधिकार की रचना की और उसके पश्चात् महाबंध नामक छठे खंड को तीस हजार सूत्रों में समाप्त किया ॥१३६-१४०॥

आद्यं जीवस्थानं क्षुल्लकबन्धाह्व्यं द्वितीयमत: ।
बंधस्वामित्वं भाववेदनावर्गणाखण्डे ॥१४१॥
एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्य: ।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु तत: ॥१४२॥

ज्येष्ठसितपक्षपंचम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेत: ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात्क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैना: ॥१४४॥

अन्वयार्थ : पहले पाँच खंडो के नाम ये हैं - जीवस्थान, क्षुल्लकबंध, बंधस्वामित्व, भाववेदना और वर्गणा। श्री भूतबलि मुनि ने इस प्रकार षट्खण्डागम की रचना करके उसे असद्भाव स्थापना के द्वारा पुस्तकों में आरोपण किया अर्थात् लिपिबद्ध किया और उसकी ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चतुर्विध संघ के सहित वेष्टनादि उपकरणों के द्वारा क्रियापूर्वक पूजा की। उसी दिन से यह ज्यष्ठे शुक्ला पंचमी संसार में श्रुतपंचमी के नाम से प्रख्यात हो गई। इस दिन श्रुत का अवतार हुआ है, इसलिये आज पर्यन्त समस्त जैनी उक्त तिथि को श्रुतपूजा करते हैं ॥१४१-१४४॥

जिनपालितं ततस्तं भूतबलि: पुष्पदंतगुरूपर्श्वम ।
षट्खण्डान्यप्यध्यगमयत्तत्पुस्तकसमेतम् ॥१४५॥
अथ पुष्पदंतगुरुरपि जिनपालितहस्तसंस्थितमुदीक्ष्य ।
षट्खण्डागमपुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यं ॥१४६॥
संपन्नमिति समस्तांगोत्पन्नमहाश्रुतानुरागभर: ।
चातुर्वर्ण्यसुसंघान्वितो विहितवान् क्रियाकर्म ॥१४७॥
गंधाक्षतमाल्यांबरवितानघण्टाध्वजादिभि:प्राग्वत् ।
श्रुतपंचम्यामकरोत्सिद्धांतसुपुस्तकमहेज्याम् ॥१४८॥

अन्वयार्थ : कुछ दिन के पश्चात् भूतबलि आचार्य ने षट्खण्ड आगम का अध्ययन करके जिनपालित शिष्य को उक्त पुस्तक देकर श्री पुष्पदंत गुरु के समीप भेज दिया। जिनपालित के हाथ में षट्खंड आगम देखकर और अपना चिन्तवन किया हुआ कार्य पूर्ण हो गया जानकर श्री पुष्पदंताचार्य का समस्त शरीर प्रगाढ़ श्रुतानुराग में तन्मय हो गया और तब अतिशय आनंदित होकर उन्होंने भी चतुर्विध संघ के साथ श्रुतपंचमी को गन्ध, अक्षत, माल्य, वस्त्र, वितान, घंटा, ध्वजादि द्रव्यों से पूर्ववत् सिद्धांतग्रंथ की महापूजा की ॥१४५-१४८॥

एवं षट्खण्डागमसूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना ।
कथयामि कषायप्राभृतस्य सत्सूत्रसंभूतिम् ॥१४९॥
ज्ञानप्रवादसंज्ञकपंचमपूर्वस्थदशमवस्तुतृतीय ।
प्रायोदोषप्राभृतज्ञोऽभूद् गुणधरमुनीन्द्र: ॥१५०॥
गुणधरधरसेनान्वयगुर्वो: पूर्वापरक्रमोऽस्माभि: ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार षट्खंड आगम की उत्पत्ति का वर्णन करके अब कषायप्राभृत सूत्रों की उत्पत्ति का कथन करते हैं। (बहुत करके श्री धरसेनाचार्य के समय में) एक श्री गुणधर नाम के आचार्य हुए। उन्हें पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशमवस्तु के तृतीय कषायप्राभृत का ज्ञान था। श्री गुणधर और श्रीधरसेनाचार्य की पूर्वापर गुरू परम्परा का क्रम हमको ज्ञात नहीं है क्योंकि उनकी परिपाटी के बतलाने वाले ग्रंथों और मुनिजनों का अभाव है। इसलिये इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता ॥१४९-१५१॥

अथ गुणधरमुनिनाथ: सकषायप्राभृतान्वयं तत्प्रायो-
दोषप्राभृतकापरसंज्ञां साम्प्रतिकशक्तिमपेक्ष्य ॥१५२॥
त्र्यधिकाशीत्या युक्तम शतं च मूलसूत्रगाथानाम् ।
विवरणगाथानां च त्र्यधिकं पंचाशतमकार्षीत् ॥१५३॥
एवं गाथासूत्राणि पंचदशमहाधिकाराणि ।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥१५४॥

पार्श्वे तयोर्दव्योरपि अधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभ: ।
यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थ निपुणमति: ॥१५५॥
तेन ततो यतिपतिना तद्गाथावृत्तिसूत्ररूपेण ।
रचितानि षट्सहस्त्राग्रंथान्यथ चूर्णिसूत्राणि ॥१५६॥
तस्यान्ते पुनरूच्चारणादिकाचार्यसंज्ञकेन तत: ।
सूत्राणि तानि सम्यगधीत्य ग्रंथार्थरूपेण ॥१५७॥
द्वादशगुणितसहस्त्राग्रंथान्युच्चारणाख्यसूत्राणि ।
रचितानि वृत्तिरूपेण तेन तच्चूर्णिसूत्राणां ॥१५८॥
गाथाचुर्ण्युच्चारणसूत्रैरूपसंहृतं कषायाख्य ।
प्राभृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यै: ॥१५९॥

अन्वयार्थ : अस्तु श्री गुणधर मुनि ने भी वर्तमान पुरुषों की शक्ति का विचार करके कषायप्राभृत आगम को जिसे कि दोषप्राभृत भी कहते हैं, एक सौ तिरासी १८३ मूल गाथा और (५३) तिरेपन विवरण रूप गाथाओं में बनाया। फिर १५ महाधिकारों में विभाजित करके श्री नागहस्ति और आर्यमंक्षु मुनियों के लिये उसका व्याख्यान किया। पश्चात् उक्त दोनों मुनियों के समीप शास्त्र-निपुण श्रीयतिवृषभ नामक मुनि ने दोषप्राभृत के उक्त सूत्रों का अध्ययन करके पीछे उनकी सूत्ररूप चूर्णिवृत्ति छह हजार श्लोकप्रमाण बनाई। अनंतर उन सूत्रों का भलीभाँति अध्ययन करके श्री उच्चारणाचार्य ने १२००० श्लोक प्रमाण उच्चारणवृत्ति नाम की टीका बनाई। इस प्रकार से गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य ने कषायप्राभृत का गाथा-चूर्णि और उच्चारण वृत्ति में उपसंहार किया ॥१५२-१५९॥

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगत: समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञात: सिद्धांत: कुंडकुंदपुरे ॥१६०॥
श्रीपद्मनंदिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्त्रपरिणाम: ।
ग्रंथपरिकर्म कर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥१६१॥
काले तत: कियत्यपि गते पुन: शामकुण्डसंज्ञेन ।
आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागम: कात्स्न्यात् ॥१६२॥
द्वादशगुणितसहस्त्रम ग्रंथं सिद्धांतयोरुभयो: ।
षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबंधसंज्ञेन ॥१६३॥
प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धति: परा रंचिता ।
तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च ॥१६४॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार से उक्त दोनों कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत सिद्धांतों का ज्ञान द्रव्यभावरूप२ पुस्तकों से और गुरुपरंपरा से कुण्डकुन्दपुर में ग्रंथपरिकर्म (चूलिका सूत्र) के कर्त्ता श्री पद्ममुनि को प्राप्त हुआ सो उन्होंने भी छह खण्डों में से पहले तीन खण्डों की बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका रची। कुछ काल बीतने पर श्री श्यामकुण्ड आचार्य ने सम्पूर्ण दोनों आगमों को पढ़कर केवल एक छठे महाबंध खंड को छोड़कर शेष दोनों ही प्राभृतों की बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका बनाई। इन्हीं आचार्य ने प्राकृत, संस्कृत और कर्णाटक भाषा की उत्कृष्ट पद्धति (ग्रंथ परिशिष्ट) की रचना की ॥१६०-१६४॥

अथ तुंबुलूरनामाऽचार्योऽभूत्तुंबुलूरसदग्रामे ।
षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धांतयोरुभयो: ॥१६५॥
चतुरधिकाशीतिसहस्त्रग्रंथरचनया युक्ताम् ।
कर्णाटभाषयाकृतमहतीं चूड़ामणिं व्याख्यां ॥१६६॥
सप्तसहस्त्रग्रंथां षष्ठस्य च पंचिकां पुनरकार्षीत् ।
कालान्तरे तत: पुनरासन्ध्यां पलरि तार्किकार्कोऽ भूत् ॥१६७॥

श्रीमान् समंतभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम् ।
सिद्धांतमत: षट्खण्डागमगतखण्डपंचकस्य पुन: ॥१६८॥
अष्टौचत्वारिंशत्सहस्त्रसद्ग्रंथरचनया युक्तां ।
विरचितवानतिसुंदरमृदुसंस्कृत भाषया टीकाम् ॥१६९॥
विलिखन् द्वितीयसिद्धांतस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन ।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धम् ॥१७०॥

अन्वयार्थ : इसके कुछ समय पश्चात् तुम्बुलूर ग्राम में एक तुम्बुलूर नाम के आचार्य हुए और उन्होंने भी छठे महाबंध खंड को छोड़कर शेष दोनों आगमों की कर्णाटकीय भाषा में ८४ हजार श्लोक प्रमित चूड़ामणि नाम की व्याख्या रची। पश्चात् उन्हीं ने छठे खंड पर भी सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिका टीका की रचना की। कालान्तर में तार्किकसूर्य२ श्रीसमंतभद्र स्वामी का उदय हुआ। तब उन्होंने भी दोनों प्राभृतों का अध्ययन करके प्रथम पाँच खण्डों की अड़तालिस हजार श्लोक परिमित टीका अतिशय सुंदर, सुकोमल संस्कृत भाषा में बनाई। पीछे से उन्होंने द्वितीय सिद्धांत की व्याख्या लिखनी भी प्रारंभ की थी परन्तु द्रव्यादि शुद्धिकरण प्रयत्नों के अभाव से उनके एक साधर्मी (मुनि) ने निषेध कर दिया।२ जिससे वह नहीं लिखी गई ॥१६५-१७०॥

एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरंपरया ।
आगच्छन् सिद्धांतो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम् ॥१७१॥
शुभरविनंदिमुनिभ्यां भीमरथिकृष्णमेखयो: सरितो: ।
मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥१७२॥
विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण ।
श्रुत्वा तयोश्च पाश्र्वे तमशेषं बप्पदेवगुरू: ॥१७३॥
अपनीय महाबंधं षट्खण्डाच्छेषपंचखण्डे तु ।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च तत् संक्षिप्य ॥१७४॥
षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य
प्राभृतकस्य च षष्ठिसहस्त्रग्रंथप्रमाण युताम् ॥१७५॥
व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्यां ।
अष्टसहस्त्रग्रन्थां व्याख्यां पंचाधिकां महाबन्धे ॥१७६॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार व्याख्यानक्रम (टीकादि) से तथा गुरु परम्परा से उक्त दोनों सिद्धांतों का बोध अतिशय तीक्ष्ण बुद्धिशाली श्री शुभनंदि और रविनंदि मुनि को प्राप्त हुआ। ये दोनों महामुनि भीमरथि और कृष्णमेणा नदियों के मध्य में बसे हुए रमणीय-उत्कलिका ग्राम के समीप सुप्रसिद्ध अगणबल्ली ग्राम में स्थित थे। उनके समीप रहकर श्री वप्पदेवगुरु ने दोनों सिद्धातों का श्रवण किया और फिर तज्जन्यज्ञान से उन्होंने महाबंध खंड को छोड़कर शेष पाँच खंडों पर व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम की व्याख्या बनाई। उसमें महाबंध का संक्षेप भी सम्मिलित कर दिया। पश्चात् कषायप्राभृत पर प्राकृत भाषा में साठ हजार और केवल महाबंध खण्ड पर आठ हजार पाँच श्लोक प्रमाण, दो व्याख्याएँ रचीं ॥१७१-१७६॥

काले गते कियत्यपि तत: पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धांत तत्त्वज्ञ: ॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धांतमधीत्य वीरसेनगुरू: ।
उपरितमनिबंधनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥१७८॥
आगत्य चित्रकूटात्तत: स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्राऽऽनतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥१७९॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन् ।

उपरितमबंधनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पै: ॥१८०॥

अन्वयार्थ : कुछ समय पीछे चित्रकूटपुर निवासी श्रीमान ऐलाचार्य सिद्धांत तत्त्वों के ज्ञाता हुए। उनके समीप वीरसेनाचार्य ने समस्त सिद्धांत का अध्ययन किया और उपरितम (प्रथम के) निबंधनादि आठ अधिकारों को लिखा। पश्चात् गुरु भगवान की आज्ञा से चित्रकूट छोड़कर वे वाट ग्राम में पहुँचे। वहाँ आनतेन्द्र के बनाये हुए जिनमंदिर में बैठकर उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति देखकर पूर्व के छह खंडों में से उपरिम बंधनादिक अठारह अधिकारों में सत्कर्म नाम का ग्रंथ बनाया ॥१७७-१८०॥

सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैद्रर्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्यां ।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनां ॥१८२॥
विंशति सहस्त्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम् ।
यातस्तत: पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥१८३॥
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रै: समापितवान् ।
जयधवलैवं षष्ठिसहस्त्रसदग्रंथोऽभवट्टीका ॥१८४॥
एवं श्रुतावतारो निरूपित: श्रीन्द्रनन्दियतिपतिना ।
श्रुतपंचम्यामृषिभिव्र्याख्येयो भव्यलोकेभ्य: ॥१८५॥
यत्किंचिदत्र लिखितं समयविरूद्धं मयाऽल्पबोधेन ।
अपनीय तदागमतत्त्ववेदिन: शोधयन्तूच्चै: ॥१८६॥
श्लोकद्वयेन वृत्तेनैकेनाशीतिशतमितार्याभि: ।
सप्तोत्तरद्विशत्यां ग्रंथेनायं परिसमाप्त: ॥१८७॥
श्लोकद्वयेन वृत्तेनैकैन चतुराशीतिशत मितार्याभि: ।
सप्ताशीति च शतेन ग्रन्थेनायं परिसमाप्तो ॥१८७॥

अन्वयार्थ : और फिर छहों खंडों पर ७२००० श्लोकों में संस्कृत प्राकृत भाषा मिश्र धवल नाम की टीका बनाई और फिर कषायप्राभृत की चारों विभक्तियों (भेदों) पर जयधवल नाम की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर स्वर्गलोक को पधारे। उनके पश्चात् उनके प्रिय शिष्य श्री जयसेन गुरू ने चालीस हजार श्लोक और बनाकर जयधवल टीका को पूर्ण किया, जयधवल टीका सब मिलकर ६० हजार श्लोकों में पूर्ण हुई। इस प्रकार से श्री इंद्रनन्दि यतिपति ने भव्यजनों के लिये श्रुतपंचमी के दिन ऋषियों द्वारा व्याख्यान करने योग्य इस श्रुतावतार का निरूपण किया। इसमें यदि मुझ अल्पबुद्धि ने आगम के विरूद्ध कुछ लिखा हो तो उसे आगम तत्त्व जानने वाले पुरुषों को संशोधन कर लेना चाहिए। इस प्रकार दो अनुष्टुप्, एक शार्दूलवृत्त और १८० आर्यावृत्तों के द्वारा २०७ श्लोक संख्या से यह ग्रंथ पूर्ण किया है ॥१८१-१८७॥

श्लोकद्वयेन वृत्तेनैकैन चतुराशीतिशत मितार्याभि: ।
सप्ताशीति च शतेन ग्रन्थेनायं परिसमाप्तो ॥१८७॥

अन्वयार्थ : ३२ अक्षर के श्लोक प्रमाण इस श्रुतावतार के १८७ आर्याछंदों में २०७ श्लोक प्रमाण हो जावेंगे, ऐसा समझना चाहिए।

अर्थ-दो श्लोक, एक श्रृग्धरा वृत्त एवं एक सौ चौरासी आर्याछंदों द्वारा इस तरह कुल १८७ गाथा (पद) प्रमाण यह ग्रंथ समाप्त हुआ।

नोट-ऊपर लिखित गणना के अनुसार कोष्ठक गत गाथा होनी चाहिए।

॥इति श्रुतावतार कथा समाप्ता॥